

प्राचीन भारतीय शिक्षाव्यवस्था में वानप्रस्थ-संस्कार का योगदान

शोधार्थी

अजितकुमार मो. भालैया
चिल्ड्रन्स रिसर्च युनिवर्सिटी,
छ-५, गांधीनगर, गुजरात

मार्गदर्शक

डॉ. राकेश पटेल
चिल्ड्रन्स रिसर्च युनिवर्सिटी,
छ-५, गांधीनगर, गुजरात

प्रस्तावना :

भारतीय धर्मग्रंथों में मानवजाति के कल्याणार्थ उनके कर्तव्य (धर्म) वर्णन किये हैं, जो कि चार आश्रम और वर्णों के रूप में फलीभूत होकर पृथ्वी को स्वर्गधाम बना रहे हैं। हमारे पूर्वजों ने धर्म द्वारा अर्थ, काम की सिद्धि करते हुए मोक्ष पा जाना अपना, नहीं किन्तु मानवजीवन का उद्देश्य ठहराया है। इस समय निःसन्देह भारतवर्ष के अन्दर सैकड़ों नहीं किन्तु हजारों संस्कृत के विद्वान तथा उत्तम ब्राह्मण मिलेंगे जो इस प्रश्न के उत्तर में कि "मानव जीवन का उद्देश्य क्या है?" सहसा एक स्वर-से बिना भूल-चूक के एक ही उत्तर देंगे कि - 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।' यह और बात है कि इनमें से प्रायः इन शब्दों का गूढ़ाशय न समझें, परन्तु यह सम्भव नहीं कि 'मानव-जन्म का उद्देश्य क्या है?' इस के उत्तर में वे कभी भी भूल कर जावें।

पुराने ऋषियों ने निःसन्देह अर्थ और काम को जीवन के दो उद्देश्य समझे थे, परन्तु अन्तिम उद्देश्य नहीं। यही तो कारण है कि हमें वर्तमान भौतिक उन्नति करने वालों का चित्र उस यात्री के रूप में दृष्टि पड़ रहा है जो मार्ग काटने में एक क्षण भी आलस्य नहीं करता, परन्तु यात्रा करते करते उसको यह मालूम नहीं कि मैंने यात्रा कहां जाकर समाप्त करनी है? पुराने ऋषियों ने मोक्षरूपी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर चार आश्रमों के स्टेशन (सदन) बनाये थे और जीवन-यात्रा के आरम्भिक दिवस तक जो जीवन को उत्तम बनाने वाले नैमित्तिक विशेष कर्म थे उनका नाम "षोडश संस्कार" रखा था। इन षोडश संस्कारों के प्रभाव से प्रभावित होकर आर्य ऋषियों ने भारत वर्ष के शारीरिक "असाध्यरोग, मानसिक विकार और जनविध्वंसक महारोगों को दूर भगा दिया था।

'संस्कार' शब्द का अर्थ :

संस्कार शब्द का अर्थ करते हुए सच्चिदानन्द शुक्ल महोदय ने कहा है कि 'संस्कृत भाषा में 'संस्कार' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'सम्' पूर्वक 'कृञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके की गई है। (सम्+कृ+घञ्=संस्कार) और इसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। इसका अभिप्राय शुद्धि कि धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों में से हैं, जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सकें।

'संस्कार' शब्द का भावार्थ शुद्ध करने वा भली प्रकार उत्तमता से कर्म करना है। तथापि आज देश में "रस्मोरिवाज और रीतभांत" के अर्थों में प्रचलित हो रहा है। आर्य ऋषियों के साहित्य में संस्कारों का जो महत्त्व है वह किसी से छिपा नहीं। वे मनुष्य का पतन उसके संस्कार भ्रष्ट होने से समझते थे। ऋषियों के पास साधारण मनुष्य को उत्तम तथा उन्नत मनुष्य बनाने का जो साधन था उसको 'संस्कार' कहते हैं। भौतिक उन्नति के साथ-साथ जब तक मनुष्य को उत्तम बनाने के लिये संस्कार रूपी साधन काम में नहीं लाये जाते, तब तक सर्व सांसारिक वैभव और अभ्युदय रहते हुए भी रात को सुख की नींद नहीं मिल सकती।

संस्कार कि गणना :

भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों ने संस्कारों के विषय में अपने भिन्न भिन्न मत दर्शाये हैं । किसीने तेरह, किसीने चौदह, किसीने पन्द्रह, किसीने सोलह तो किसीने चालीस संस्कार भी दर्शाये हैं । परन्तु अभी गर्भाधान, पुंसवन, सिमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, निष्क्रमण, चूडाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास एवं अंत्येष्टि ये सोलह सर्वस्वीकृत संस्कार हैं इस बात पर सभी विद्वान् एकमत हैं ।

वानप्रस्थ संस्कार का अर्थ :

वानप्रस्थ-संस्कार का अर्थ करते हुए संस्कार चन्द्रिका में लिखा है कि, वानप्रस्थ-संस्कार उसको कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे और पुत्र के भी एक संतान हो जाये अर्थात् जब पुत्र का पुत्र भी हो जावे तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में बसे और शास्तोक्त विधि का पालन करें । वानप्रस्थसंस्कार को वानप्रस्थाश्रम भी कहते हैं ।

वानप्रस्थ संस्कार का समय :

वानप्रस्थ संस्कार (वानप्रस्थ-आश्रम) करने का समय पचास वर्ष के उपरान्त हैं । पचास वर्ष के बाद गृहस्थी लोग वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते थे । जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की और यात्रा की तैयारी करे । यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जाये कि इसकी सेवा मेरु तरह किया करना और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्म मार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना ।

भोग और त्याग का समन्वय :

संसार का प्रारंभ भोग है, अंत त्याग है - इस व्यावहारिक सत्य को लेकर हमारे पूर्वज चले थे । यद्यपि संसार का प्रारंभ भोग है, परन्तु भोग भी बिना त्याग के नहीं भोगा जा सकता । जीवन कि इस प्रथम साधना का नाम ब्रह्मचर्याश्रम रखा था । ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम के लिए तैयारी का आश्रम है । संसार के ऐश्वर्यों का जीवन में पूरी तरह से उपभोग किया जा सके इसीलिए ब्रह्मचर्यावस्था में बालक को संसार के ऐश्वर्यों से दूर रखा जाता था । संसार को भोगना सिखने से पहले संसार में त्याग और तपस्या से रहना सिखाने के कि जरूरत है । इसीलिए वैदिक संस्कृति में गृहस्थाश्रम से पहले ब्रह्मचर्याश्रम को स्थान दिया गया है । गृहस्थाश्रम संसार को भोगने का आश्रम है । जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारत में त्याग ही त्याग कि रट लगाई जाती थी, वे उस समय की संस्कृति को नहीं समझते । गृहस्थजीवन का आदर्श यही है कि मनुष्य विषयों को भोगकर विषयों से ऊपर उठ जाये, फिर उसे विषयों का मुँह न ताकना पड़े । वैदिक संस्कृति के आदर्श के अनुसार मनुष्य को संसार के विषयों के बीच में से होकर गुजरना है, उनमें अपने को खो नहीं देना है । वैसे तो संसार को भोगने कि इच्छा तो हर एक में है, इसीलिए गृहस्थाश्रम में उसे भोगने का मौका दिया गया है । भोग भोगने के बाद भोग का छूटना भी उतना ही आवश्यक है । मनुष्य के मन कि इसी स्वाभाविक अवस्था को प्राचीन ऋषियों ने वैदिक रूप दिया था, और इस प्रवृत्ति का नाम वानप्रस्थाश्रम रखा था ।

वानप्रस्थाश्रम कि स्थापना करनेवालों ने इस बात का स्वीकार कर लिया था कि यहाँ से जब चलना ही है तो अपनी मर्जी से चले, मजबूर होकर नहीं । जो चीज अपनी मर्जी से हो उसमें आनंद है ।

प्राचीन भारतीय शिक्षाव्यवस्था और वानप्रस्थाश्रम :

भोगवाद के प्रश्न को हल करने के साथ-साथ वानप्रस्थाश्रम में गृहस्थ के बालकों कि शिक्षा का प्रश्न भी हल हो जाता था । जो लोग घर-बार छोड़कर जंगल में जा बसे होते थे, वे वानप्रस्थ लेने से पूर्व दुनिया के सब प्रकार के धन्धे कर चुके होते थे । उनमें से कुछ एक के अनेक सन्तानें भी हो चुकी होती थीं । उन्हें मालूम था कि छोटे बच्चों का मानसिक विकास किस प्रकार होता है । वे अपनी उम्र में बच्चों के साथ हँस चुके होते थे, रो चुके होते थे, खेल चुके होते थे । अब इनके वानप्रस्थ में आने के बाद गाँव के छोटे-छोटे बालक इनके पास आकर पढ़ने लगते थे । कभी-कभी किसी वानप्रस्थी के पास बीस बालक एकत्रित हो जाते थे, किसी के पास पचास, किसी के पास इससे अधिक । ये बालक अमीर भी होते थे, गरीब भी, राजाओं के भी होते थे, रंकों के भी, परन्तु वानप्रस्थियों के आश्रम में आकर इनका ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं रहता था । उन आश्रमों में ये सब भाई- भाई थे । वानप्रस्थियों के इन आश्रमों को ही 'गुरुकुल' कहा जाता था । इन आश्रमों में न खाने-पीने के लिए कुछ लिया जाता था, न पढ़ाने-लिखाने के लिए । इन आश्रमों में पढ़ानेवालों को कोई वेतन नहीं मिलता था । फिर भी बिना वेतन लिये, बिना पढ़ाने की फीस लिये, बिना बालकों से खाने-पीने का खर्च लिये, बिना राज्य से किसी प्रकार की सहायता लिये बालकों की शिक्षा की पूरी-पूरी व्यवस्था अपने देश में चल रही थी । इसी व्यवस्था का आधार वानप्रस्थाश्रम या वानप्रस्थ-संस्कार था । आजकल की अवस्थाओं में निःशुल्क तथा अनिवार्य-शिक्षा के इस कार्य को पूरा करने के लिए लाखों नहीं, करोड़ों रुपये की जरूरत है । वैदिक-संस्कृति ने इस समस्या को वानप्रस्थाश्रम द्वारा हल किया था ।

निःशुल्क शिक्षा का रहस्य :

जैसे आगे बतलाया है कि वानप्रस्थी लोग समाज के बच्चों को पढ़ाने-लिखाने के बदले में कुछ भी वेतन नहीं लेते थे, अतः शिक्षा के लिए तो कोई खर्च नहीं था । किन्तु इतने बड़े छात्र और शिक्षक समुदाय के लिए खानपान और रहनसहन कि निःशुल्क व्यवस्था के लिए भी बहुत बुद्धिमत्ता के साथ योजना कि हुई थी । जैसे कि ये गुरुकुल या वानप्रस्थीओं के आश्रम वन में हुआ करते थे । अपने गाँव या शहर के पास कुटियाँ बनाकर गुरु और शिष्य निवास करते थे । प्रत्येक गाँव और शहर के ईर्दगिर्द इन वानप्रस्थी कि कुटियाँओं का तांता बंधा रहता था । इस कारण रहने कि व्यवस्था तो निःशुल्क हो जाती थी ।

इसके साथ गुरुगण खानपान और आवश्यक शिक्षा के लिए छात्रों से पशुपालन और कृषि भी करवाते थे । इसके अतिरिक्त बालक गाँव से भिक्षा ले आते थे, और आश्रम में आकर सब मिलकर बाँट लेते थे, गुरु भी खाते थे, शिष्य भी खाते थे । कभी कोई अमीर घर का बालक किसी गरीब की झोपड़ी के सामने जा खड़ा होता था, कभी कोई गरीब घर का बालक किसी अमीर के महल के सामने पहुँच जाता था, परन्तु अमीर घर का बालक अपने को अमीर नहीं समझता था, गरीब घर का बालक अपने को गरीब नहीं समझता था । इधर घर की देवियाँ इन बालकों के मधुकरी लेने के लिए आने की प्रतीक्षा किया करती थीं, कभी देर हो जाती, तो घर से निकल निकल कर व्यग्रता से देखती कि आज बालकों की मण्डली क्यों नहीं आई ?

भिक्षा मांगने के कारण ये वानप्रस्थी गुरुशिष्य भिखारी नहीं माने जाते थे । क्योंकि भिक्षा उनका अधिकार था । भिखारी तो उसे कहते हैं जो आलसी होकर कुछ उपयोगी काम न करे और दूसरों से मांगकर खावे । ऋषियों ने सामाजिक उन्नति यहाँ तक की थी कि जिस प्रकार एक परिवार का मनुष्य यदि दुकान या कारखाने में काम करता हुआ रोटी खाने के समय अपने घर से रोटी ले जावे तो उसको कोई भिखारी नहीं कहेगा । उसी प्रकार जिन्होंने ग्राम वा नगर को परिवार बना रक्खा था, उनका अधिकार था कि ग्राम वा नगरवासियों के कल्याण के लिए अपनी तपस्या के फलों को देते

हुए अपने ग्राम वा नगर रूपी गृह से रोज खाने के समय पर अपना भोजन ले जावें । इसके अतिरिक्त जो गृहस्थ आज वानप्रस्थ हुआ है, वह आज से पूर्व पच्चीस वर्ष तक ग्राम व नगर के ब्रह्मचारीयों, वानप्रस्थीयों और संन्यासीयों को रोज भिक्षा देता रहा है । आज उसके वानप्रस्थ होने पर उसका परिवार तथा ग्राम के सब गृहस्थ उसको अन्न देना अपना कर्तव्य समझते थे । ऐसी 'भिक्षाचरण' व्यवस्था के कारण ही भोजन बनाने और उसके बाद करने पड़ते काम से उनको मुक्ति मिल जाती थी, और उस बचे समय में वानप्रस्थी और छात्र अपना अध्ययन-अध्यापन का कार्य उत्कृष्ट रीति से कर सकते थे ।

बेरोजगारी कि समस्या का समाधान :

'वानप्रस्थाश्रम' निःशुल्क शिक्षा के अतिरिक्त एक और भी समस्या का हल था । अगर किसी समाज में काम करने वालों की संख्या बढ़ती जाए और इतनी बढ़ जाए कि पुराने काम करनेवाले कम न हों, और नयों की बाढ़ आती जाए, तो उसका नतीजा यही होगा कि किसी समय सभी भूखे मरने लगेंगे । आज बेकारी इतनी बढ़ने का कारण यह है कि जिन लोगों की आयु पेंशन पाने लायक हो गई है वे पेंशन पाने के बाद फिर नये सिरे से नौकरी शुरू कर देते हैं, या कोई-न-कोई धंधा किये चलते हैं । वैदिक-संस्कृति में ऐसा नहीं था । उसमें सामाजिक-व्यवस्था ही ऐसी थी कि ५० की आयु से सब लोग अलग छूट जाते थे, नवयुवकों के लिए जगह अपने-आप खाली हो जाती थी । आज जिन लोगों को काम चाहिए वे बेकार बैठे हैं, जिन्हें कमाई छोड़कर आश्रमों में जा बैठना चाहिए, वे कमा रहे हैं । नवयुवक भी बेकार इसलिए नहीं बैठे क्योंकि वे कमा नहीं सकते । वे कमा सकते हैं, परन्तु अगर उन्हें कमाने का मौका मिले । उनके लिए कठिनाई यह है कि वे जो पेशा सीखते हैं वही भरा हुआ है । पुराने वकीलों की मौजूदगी में नये वकील कैसे काम करें, पुराने डॉक्टरों की मौजूदगी में नये डॉक्टर क्या करें, पुराने दुकानदारों के होते हुए नये दुकानदार कैसे फूले-फले ?

आश्रम- व्यवस्था द्वारा प्राचीन ऋषियों ने बेकारी के प्रश्न को हल कर दिया था । उन्होंने मनुष्य-जीवन को चार हिस्सों में बाँट दिया था और उनमें से केवल एक आश्रम में अर्थोपार्जन होता था । ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी कमाई नहीं करते थे । इसका यह मतलब नहीं कि कमाई से बचने के लिए वे लोग वानप्रस्थी या संन्यासी हो जाते थे । गृहस्थ में कमाई किये बगैर किसी को वानप्रस्थ में आने का अधिकार नहीं था, और अधिकतर, वानप्रस्थी ही संन्यासी होता था । हर-एक आदमी कमाता था, परन्तु एक खास आयु में आकर कमाना छोड़ देता था, दूसरों के लिए रास्ता खोल देता था । आज सब कमा रहे हैं । गृहस्थी तो कमा ही रहे हैं, इधर विद्यार्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी भी कमा रहे हैं । धन कमाने के लिए जो यह संग्राम मचा हुआ है उसका परिणाम है कि कुछ लोगों को जरूरत से ज्यादा मिल जाता है तो कुछ लोग भूखे मरते हैं । प्राचीन काल में वानप्रस्थाश्रम के कारण यह अव्यवस्था नहीं थी ।

उपसंहार :

'वानप्रस्थ' एक भावना-विशेष है । संसार के विषयों से गोंद की तरह चिपक बैठने की जगह उनका रस भी लो, और उसके बाद उन्हें छोड़ भी दो । संसार में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों हैं, अपने-अपने स्थान पर दोनों ठीक हैं । प्रवृत्ति को शास्त्रों में 'प्रेय' कहा है, निवृत्ति को 'श्रेय' कहा है । 'प्रेय' के बाद 'श्रेय' आना चाहिए, 'प्रवृत्ति' के बाद 'निवृत्ति' आनी चाहिए, संसार को भोगने के बाद संसार को छोड़ना आना चाहिए । भोगने के बाद छोड़ना, प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति ही 'वानप्रस्थ की भावना' है । आज हमारे समाज को वानप्रस्थ की भावना की जरूरत है, निवृत्ति की भावना की जरूरत है, चिपकने के बजाय छोड़ना सीखने की जरूरत है । हम जरा-जरा-सी बात में चिपक जाते हैं । हम

किसी कुर्सी पर बैठते हैं, तो उससे चिपक जाते हैं। प्रधान की कुर्सी पर बैठनेवाला प्रधान-पद के साथ चिपक जाता है, मन्त्री की कुर्सी पर बैठनेवाला मन्त्री पद के साथ चिपक जाता है। कई लोगों को इन कुर्सियों से उठना ऐसा जान पड़ता है मानो कुर्सी उनके अंग का हिस्सा बन गई हो। लोग कहते हैं कि बीसवीं सदी में कई नयी बीमारियाँ निकली हैं। और बीमारियाँ नयी हों या न हों, यह चिपकने की बीमारी जरूर नयी है। इस बीमारी से समाज को बचाने का केवल एक ही उपाय है, और वह है समाज में वानप्रस्थ की भावना को जागृत करना। वानप्रस्थ केवल जंगल में भाग जाने का नाम नहीं है, वानप्रस्थ 'निवृत्ति', 'त्याग', 'अपरिग्रह' का नाम है। 'परिग्रह' शब्द 'परि' तथा 'ग्रह' से बना है। 'परि' का अर्थ है, चारों तरफ से, 'ग्रह' का अर्थ है ग्रहण कर लेना, चिपट जाना। संसार को चारों तरफ से चिपट जाना, छुड़ाये भी न छोड़ना 'परिग्रह' है, और उसे समय आने पर खुद छोड़ देना 'अपरिग्रह' है। क्या फल पक जाने पर स्वयं वृक्ष से टपक नहीं पड़ता? 'वानप्रस्थ' की भावना पक जाने पर फल का डाली से अलग हो जाना है। समाज के प्रश्नों पर जितना भी विचार किया जाए एक ही परिणाम निकलता है। आज संसार को किसी सन्देश की आवश्यकता है तो वानप्रस्थ के त्याग और निवृत्ति के सन्देश की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि :

१. संस्कारविधि
लेखक - स्वामी दयानंद सरस्वती
प्रकाशन - आर्य साहित्य मंडल, अजमेर
२. संस्कारचन्द्रिका
लेखक - श्री पं. भीमसेन शर्मा एवं आत्माराम अमृतसरी
प्रकाशक - सर्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली-२
३. संस्कारचन्द्रिका (संस्कार-विधि कि वैज्ञानिक व्याख्या)
लेखक - सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
प्रकाशक - विजयकुमार गोविन्दराम हसनन्द, दिल्ली
- ४.. हिन्दू संस्कार
लेखक - डॉ. राजबली पाण्डे
प्रकाशक - चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
५. हिन्दू धर्म के सोलह संस्कार
लेखक - सच्चिदानंद शुक्ल
प्रकाशक - प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली